# भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षा एवं जीवन व्यवस्था : वैदिक साहित्य के संदर्भ में

डॉ.प्रियंककुमार एन. रावल
सहायक अध्यापक, अनुस्नातक संस्कृत विभाग,
सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर

## वैदिक शिक्षा-पद्धति

वैदिक शिक्षा-पद्धति का प्रमुख उद्देश्य मानव की प्राकृतिक शक्तियों को सुविकसित कर उसे जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ बनाना था। ऋग्वेद में ब्रह्मचारी का उल्लेख है।[1] - किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम की स्पष्ट अवधारणा की जानकारी अथर्ववेद से होती है। 'ब्रह्म' शब्द वेद, तप और सत्य का वाचक है। तपस्या के अनुष्ठानपूर्वक वेद और सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही विद्यार्थी की चर्या थी, जिससे वह मृत्यु तक पर विजय प्राप्त कर सके। उपनयन संस्कार के माध्यम से गुरु की सन्निधि में पहुँचा हुआ छात्र आश्रम में भिक्षा एवं समिधाहरण तथा अग्नि-परिचरण करते हुए श्रम और स्वावलम्बी जीवन की प्रेरणा तो पाता ही था, नगरीय जीवन के आकर्षणों से भी बचा रहता था। उत्तेजक खाद्य-पदार्थ, वेश-भूषा और श्रृंगार-प्रसाधन उसके लिए वर्जित थे। अथर्ववेद के सम्पूर्ण ११ वें काण्ड में ब्रह्मचारी के आदर्शों का विशद निरूपण है।

तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली स्मृति, धारणा और बोध तीनों पर आश्रित है। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में केवल तोतारटन्त पद्धति को अपनाने वाले शिष्यों का साम्य वर्षा ऋतु में टर्र-टर्र करने वाले मण्डूकों के साथ प्रदर्शित है। उपनिषदों में संवाद - शैली के साथ ही प्रायोगिक विधियाँ भी शिक्षा-प्रक्रिया में व्यवहृत दिखलाई देती हैं। ब्रह्म सर्वत्र किस प्रकार परिव्याप्त है, इसे समझाने के लिए गुरु ने शिष्य से एक जलपूर्ण पात्र में लवण डालने और थोड़ी देर रखने के लिए कहा। जल में जब लवण पूरी तरह घुल गया, तो गुरु ने जिज्ञासु शिष्य से कहा - 'सोम्य ! जैसे इस जल-पात्र में सर्वत्र नमक परिव्याप्त है, यद्यपि वह पृथक् से दिखाई नहीं दे रहा है - इसी प्रकार हमारे जीवन में पृथक् से न दिखाई देने पर भी ब्रह्म सर्वत्र परिव्याप्त है। विद्यार्थी तब तक कुछ नहीं सीख सकता, जब तक उसमें प्रबल जिज्ञासा न हो, लौकिक और वैषयिक प्रलोभनों से बचने का आत्म-बल न हो-इस प्रकार की दुर्दम्य जिज्ञासा से ओतप्रोत उदाहरण है - नचिकेता, जो यम-सदृश गुरु के पास मृत्यु का रहस्य सीखने के लिए गया है। यमराज के द्वारा विविध प्रलोभनों से डिगाये जाने पर भी वह सर्वथा अविचलित रहता है और उसकी 'नचिकित्सा वृत्ति' जिज्ञासा - वृत्ति का अनुपम उदाहरण है। ऊसर में जैसे बीजवपन करने से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार जिज्ञासारहित शिष्य को विद्या- दान करने से भीं कोई लाभ नहीं - इसीलिए वैदिक युग में आचार्यों की धारणा थी कि विद्या के साथ ही मर जाना श्रेष्ठ है, किन्तु अनुर्वर भूमि में ज्ञान बीज का वपन करना अच्छा नहीं है :

---

1 ऋ० सं० १०.१०८.५

विद्यया सार्धं म्रियेत । न पुनरुषरे वपेत् ।

वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली में पाठ्य विषय क्या थे, इसका स्वल्प विवरण छान्दोग्योपनिषद् से प्राप्त होता है। नारद-सनत्कुमार-संवाद में जिन विद्याओं का उल्लेख हुआ है,[2] वे ये हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेदों के अर्थविधायक (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं छन्द) ग्रन्थ, पितृविद्या (मानवशास्त्र - Anthropology), राशिविद्या (गणितशास्त्र), दैवविद्या (भूकम्पादि दैवी उत्पातों के ज्ञान का शास्त्र - Physical Geography), निधिविद्या (खनिजशास्त्र-Minerology), वाकोवाक्य (आधुनिक तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), ब्रह्मविद्या (Spiritual Science), भूतविद्या (प्राणीशास्त्र - Zoology, Anatomy प्रभृति), क्षत्रविद्या (Military Sceince, Political Science ), नक्षत्रविद्या (Astronomy), सर्पदेवजनविद्या (विषविज्ञान Toxicology)।

इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में, पाठ्य सामग्री कितनी वैविध्यपूर्ण और बहुआयामी थी। उस युग में गुरु और शिष्य के मध्य पारस्परिक श्रद्धापूर्ण सम्बन्धों की गम्भीरता भी उल्लेखनीय है। अध्यापित शिष्यों से अपेक्षा की जाती थी कि, वे अपने गुरु से कदापि द्रोह न करें। गुरु-द्रोही शिष्यों का ज्ञान आवश्यकता के समय अनुपादेय बन जाता था :

अध्यापिता ये गुरु नाद्रियन्ते विप्ना वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव तेन न गुरुर्भोजनीयस्तथैव चान्नं न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥

(शाट्यायनीयोपनिषद् – ३८)

संहितोपनिषद् ब्राह्मण में ही आदर्श शिष्य के ये लक्षण निरूपित हैं :

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

गुरु उसी शिष्य को अपना ज्ञान प्रदान करे जो पवित्र, अप्रमादी, मेधावी, ब्रह्मचारी और ज्ञान का संरक्षक हो। तैत्तिरीय उपनिषद् में दीक्षान्त अवसर पर प्रदेय जो उपदेश उल्लिखित है, वह उन अपेक्षाओं को स्पष्ट करने में समर्थ है, जो विद्या प्राप्ति के अनन्तर छात्र से गुरु करता था। उपदेश इस प्रकार है :

"सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वंश-परम्परा को आगे बढ़ाओ। सत्य, धर्म, कुशल-क्षेम, समृद्धि, देव-पितृकार्यों में कभी प्रमाद न करो। माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता के समान समझो। गुरुजनों के भी निर्दोष आचरण का ही अनुकरण करो, अन्यों का नहीं। जो कल्याणकारी ब्राह्मण हैं, उनके निकट बैठकर उनमें विश्वास करो। दान श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, भय और अनुबन्ध-सभी प्रकार से देना चाहिए। अपने कर्म और आचरण के विषय में किसी प्रकार का सन्देह होने पर विचारशील, सन्तुलित, धर्मात्मा व्यक्तियों के व्यवहार से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए। यही वेदों का रहस्य है। यही अनुशासन है। इसी की उपासना करनी चाहिए।[3]

---

2. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ - छान्दोग्य उपनिषद् ७.१.२।

3. तैत्तिरीय उपनिषद् ७.११

विद्या-प्राप्ति के अनन्तर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते समय किसी युवक के लिए इससे अधिक प्रेरणादायक और मार्ग प्रदर्शक उपदेश और क्या हो सकता है? यह कहा ही जा चुका है कि, वैदिक युग में पुरुषों के सदृश स्त्रियाँ भी समान रूप से शिक्षा प्राप्त करती थीं। गार्गी वाचक्नवी और मैत्रेयी प्रभृति नारियों ने तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा के जिन अमिट हस्ताक्षरों को अंकित किया है, उससे कौन आज अपरिचित है ?

## दैनिक कर्तव्य :

तैत्तिरीय संहिता के एक वचन से सिद्ध होता है कि, ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण की अवधारणा संहिता-काल में विद्यमान थी - तदनुसार ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन प्रकार के ऋणों से युक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य पालन से ऋषियों के प्रति, यज्ञानुष्ठान से देवताओं के प्रति व सन्तानोत्पादन के माध्यम से वह पितरों के प्रति आनृण्य सम्पादित करता है –

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः।
प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।।"

- (तैत्ति० सं० ६.३.१०५)

कालान्तर से सूत्रकाल में, उन ऋणों पर विशेष बल दिया गया, ताकि व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र एवं निर्बन्ध न मानकर उत्तरदायित्त्व की भावना से संयुक्त हो।

दैनिक कर्त्तव्यों में पञ्चमहायज्ञों - ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देव- यज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ का अनुष्ठान उसके लिए आवश्यक था। ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य है वेदों का स्वाध्याय। पितृयज्ञ के अन्तर्गत तर्पणादि कृत्य सम्मिलित हैं, देवयज्ञ का अभिप्राय सायं प्रातः अग्नि का अनुष्ठान था। भूतयज्ञ के रूप में, घर में पके भोजन से कुछ अंश श्वानों, वायसों, कृमियों तथा पतित जनों के लिए निकाल देने की प्रथा थी। नृयज्ञ के माध्यम से अतिथि सत्कार की व्यवस्था थी।

## संस्कार

प्राकृत रूप में जन्मे व्यक्ति के जीवन को संस्कृत - परिष्कृत करने तथा समाजोपयोगी बनाने के लिए वेदकालीन समाज में संस्कार विधान प्रचलित था। गृह्यसूत्रों में इन संस्कारों का विशद निरूपण किया गया है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के ये संस्कार मानव-जीवन के परिष्कारार्थ अत्यन्त उपादेय माने गये हैं।

## निवास व्यवस्था :

वेदकालीन समाज ग्रामों और नगरों-दोनों में ही रहता था। बहुत दिनों तक पश्चिमी विद्वान् वैदिक सभ्यता को ग्राममूलक ही समझते रहे, किन्तु अब इस भ्रम का अपनयन हो गया है। कोई भी सभ्यता न केवल ग्रामों में पनपती है और न अकेले नगरों में। वैदिक युग में पुरों (दुर्गों) का अस्तित्त्व था। ये बहुत विशाल हुआ करते थे और अभेद्य भी। इनका निर्माण पत्थरों से किया जाता था। लौह दुर्गों का उल्लेख भी मिलता है[4] | ऋग्वेद के दो स्थलों पर सौ दीवारों (शतभुज) वाले दुर्गों का उल्लेख है।[5] इन्द्र ने दस्युराज शम्बर के शतावधि किलों को ध्वसा किया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी दुर्गों का अनेक उल्लेख है। 'त्रिपुर'[6] तथा 'महापुर'[7]शब्द उन नगरों के द्योतक हैं, जिनमें क्रमशः तीन अथवा अधिक रक्षा-पंक्तियों का निर्माण किया

4 ऋ० सं० ४.३०.२०

5 ऋ० सं० १. १६६.८

6 तैत्तिरीय संहिता ६.२३

7 तैत्तिरीय संहिता ६.२.३.१

गया हो। 'एकादशद्वारं पुरं' तथा 'नवद्वारं पुरम्' शब्दों का उपनिषदों में यद्यपि शरीर के अर्थ में प्रयोग हुआ है, किन्तु इनसे इतना अवश्य व्यक्त हो जाता है कि उस युग में अनेक द्वारों वाले नगर हुआ करते थे। ब्राह्मणग्रन्थों में 'नगरिन' शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक रूप में हुआ है; इससे ज्ञात होता है कि, ब्राह्मणों के काल में नगर विद्यमान थे। ऋग्वेद में राजा वरुण के बृहदाकार प्रासादों का वर्णन है, जिनमें सहस्रद्वार तथा इतने ही स्तम्भ (सहस्रस्थूण ) बतलाये गये हैं।[8] इससे स्पष्ट है कि वेद-काल में राजाओं के विशालकाय प्रासाद हुआ करते थे। प्रासाद के ही अर्थ में 'हर्म्य'[9] शब्द भी मिलता है। काम्पिल्य, आसन्दीवन्त तथा कौशाम्बी नगरियाँ वैदिककाल में ही राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थीं।

वैदिक 'वाङ्मय में आवास के अर्थ में जो शब्द मिलते हैं, उनमें गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य और दुरोण प्रमुख हैं। इनका मन्त्रों में जिस प्रकार का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है वैदिक गृह सभी आवश्यक सुविधाओं से युक्त होते थे। आवासीय गृहों के साथ ही उस युग में भव्य सभा-भवनों का अस्तित्त्व भी था। गृह निर्माण की सामग्री के रूप में बाँसों, मिट्टी, लकड़ी, पत्थरों तथा पकी ईंटों का प्रमुख रूप से प्रयोग होता था। वैदिक साहित्य में निर्माणाधीन गृह के अंगों का उल्लेख 'उपमित' (काष्ठ-स्तम्भ), 'प्रतिमित' और 'परिमित' (सीधी या आड़ी धरनें), अक्षु (छत पाटने की प्रक्रिया) पलद तृण, नहन, प्राणाह, सन्दंश, परिष्वञ्जय प्रभृति शब्दावली के रूप में है। घर के विभिन्न कक्षों को अग्निशाला, हविर्धान (भाण्डारकक्ष) पत्नी - सदन (अन्तःपुर), सदस् (बैठक), आवसथ (अतिथि कक्ष) प्रभृति कहा गया है - वास्तव में ये सभी शब्द यज्ञशाला के सन्दर्भ में व्यवहृत हैं, जिन्हें आवासीय गृहों के सन्दर्भ में विद्वानों ने स्वीकार किया है। गृहों के अधिष्ठाता देवता के रूप में वैदिक साहित्य में 'वास्तोष्पति' देव का उल्लेख है।

**गृह उपयोगी साधन :**

वैदिक युग में, बैठने तथा लेटने के लिए बहुविध आसनों का वर्णन प्राप्त होता है। यज्ञानुष्ठान के समय 'प्रस्तर', 'बर्हि' तथा 'कूर्च' प्रभृति कुश अथवा तृणों के आसनों का व्यवहार होता था। अन्तःपुर में स्त्रियाँ तल्प, प्रोष्ठ तथा वह्य पर लेटकर विश्राम करती थीं। 'तल्प' एक विशिष्ट प्रकार का पलंग था। ऋग्वेद में 'प्रोष्ठशय्या' का उल्लेख है- -यह काष्ठ-निर्मित ( तख्त जैसी) शय्या प्रतीत होती है।[10] 'वह्य' आधुनिक पालकी के सदृश सुखद् आसन था। ऋग्वेदोत्तर वैदिक साहित्य में, विशेषरूप से अथर्ववेद[11], वाजसनेयि संहिता[12] और शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में 'आसन्दी' (कुर्सी) का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

---

8 'राजनावभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते॥ ऋ०सं० २.४१.५

बृहन्तं मानंवरुण स्वधाव : सहस्रद्वारं जगमा गृहंते॥ ऋ स. ७.८८.५

9 ऋ० सं० - ७.५६.१६

10 ऋ० सं० - ७.५५.८

11 अथर्ववेद - १५.३

12 वाजसनेयि संहिता - ८.५६

मृत्तिका और धातु से निर्मित 'कलश', काष्ठ निर्मित 'द्रोण' और चर्म-निर्मित 'दृति' संज्ञक पात्रों का प्रयोग वैदिक युग में खाद्य और पेय पदार्थों के संरक्षण के लिए होता था। प्याले को 'ग्रह' कहे गये हैं। भोजन को पकाने के लिए 'स्थाली' का प्रयोग किया जाता था। यज्ञीय हविष्य 'उरवा' में पकाया जाता था। अनाज पीसने के लिए 'दृषत्' तथा 'उपल' काम में लाये जाते थे। काष्ठरचित 'उलूखली' तथा 'मूषल' से अन्न के साथ ही सोमलता भी कूटी जाती थी। 'शूर्प' (सूप) तथा 'तितउ' (चलनी) का प्रयोग भी प्रचलित था। तैयार अन्न को 'ऊर्दर' नामक पात्र से नापकर 'स्थीबि' (बखारी) में रखा जाता था। भोजन को कुत्तों बिल्लियों से बचाने के लिए 'शिक्य' (छींका) का प्रयोग भी प्रचलन में था।

## भोजन पदार्थ

जौ, चावल, गेहूँ, मूंग, उड़द आदि धान्यों को कृषि से प्राप्त किया जाता था। इनके अतिरिक्त घी, दूध, दही भी भोजन - सामग्री में सम्मिलित थे। सोमरस का पान भी प्रचलित था ही। गेहूँ की तुलना में, उस युग में यव को विशेष स्थान प्राप्त था। यजुर्वेद के एक मन्त्र में वेदकालीन विभिन्न धान्यों का सुन्दर उल्लेख है :

"व्रीह्यश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मेमुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे पियङ्गवश्च मेऽणवश्चमे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मेमसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥[13]

'धाना:' (जौ की लाई) का ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख है।[14] पूषन् देव को प्रसन्न करने के लिए हुए जौ के आटे को दूध या घी में मिलाकर 'करम्भ' नामक भोज्य पदार्थ तैयार किया जाता।[15] अपूप का निर्माण जौ या चावल के आटे में घृत के सम्मिश्रण से किया जाता था। 'पक्ति' एक प्रकार की रोटी होती थी। ओदन, पुरोडाश ( चावल के आटे का पिण्ड) और सत्तू का प्रयोग भी प्रचलित था। गोदुग्ध, मठे (मन्था) और दही को मिलाकर अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ उस युग में बनाये जाते थे।

संहिताओं के युग में आर्य गण पूर्णतया शाकाहारी थे। गाय को तो ऋग्वेद में, स्पष्ट रूप से 'अघ्न्या; कहा गया है। लेकिन ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में, शनैः शनैः मांसाहार का प्रयोग भी कुछ लोग करने लगे थे। पेय पदार्थों में सोमरस मुख्य था, जिसका वर्णन ऋग्वेद के नवम मण्डल में विस्तार से है। सौत्रामणीयाग में सुरा-पान का उल्लेख यद्यपि मिलता है, लेकिन अनेक मन्त्रों से ज्ञात होता है कि, सुरा-पान को वैदिक युग में सामान्यतः ठीक नहीं समझा जाता था। ऐसा ही एक मन्त्र यह है की –

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥[16]

13. यजु० सं० - १८.१२
14. ऋ० सं० - १.६२.२, ३.५३.३, ३.५२.५, ६.२९.४
15. ऋ० सं० - १.१८७.१६, ३.५२.७, ६.५६.१
16. ऋ० सं० ७.८६.६

उपर्युक्त मन्त्र में एक अपराधी का कथन अंकित है, जिसके अनुसार उसने द्यूत, वञ्चना अथवा सुरापान के प्रभाव में अपराध किया है। इस प्रकार सुरा-पान को अपराध-भावना को प्रोत्साहित करने वाला माना गया है। वैदिक आर्यों में, सुपक्व फलों का सेवन भी प्रचलित था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र के द्वारा कामनाओं को पूर्ण करने वाले धन देने का सादृश्य अंकुश के द्वारा पके फल गिराने से स्थापित है -

वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूदहीन्द्र सम्पारणं वसु ।[17]

उस काल में बेर, उदुम्बर प्रभृति फलों के प्रति विशेष आकर्षण दिखलाई देता है। ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त एक गाथा में कहा गया है कि निरन्तर चलते रहने वाले अर्थात् कर्म में संलग्न व्यक्ति को स्वादिष्ट गूलर के फल खाने के लिए मिलते हैं -

चरन्वै मधु विन्दति, चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूयर्स्य पश्य श्रेमाणं, यो न तन्द्रयते चरन् ।।[18]

**वस्त्राभूषण**

उस युग में 'वासस्' (अधोवस्त्र) तथा 'अधिवासस्' (उत्तरीय) संज्ञक दो वस्त्र सामान्यरूप से पहने जाते थे। परवर्ती संहिताओं में 'नीवि' (अन्तर्वस्त्र ) का उल्लेख भी है। साधारणतया चमड़े, ऊन, कपास इत्यादि के वस्त्र पहने जाते थे । यज्ञादि के विशेष अवसरों पर अजिन तथा कुश निर्मित वस्त्र पहने जाते थे। धनी-मानी लोग रेशमी वस्त्र भी पहनते थे। ऋग्वेद में ऊर्णा (ऊन) का अनेक बार उल्लेख है ।[19] वस्त्रों को जरी आदि के काम से अलंकृत भी किया जाता था, जैसाकि मरुतों के बारे में कहा गया है कि वे सुवर्ण से सुसज्जित वस्त्र पहनते थे- 'बिभ्रद्वापिं हिरण्ययम्' ।[20] ऋग्वेद में सुवर्ण-सज्जित वस्त्र को 'पेशस्' कहा गया है, जिसे बुनने का कार्य स्त्रियाँ (पेशकारी) करती थीं। स्त्रियाँ पति को आकृष्ट करने के लिए आकर्षक वस्त्र पहनती थीं- 'जायेव पत्य उशती सुवासा:'[21] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि दानी आश्रयदाताओं ने सुन्दर वेश-भूषा में विभूषित वधू को भी जीत लिया :

भोजा जिग्युर्वध्वं या सुवासा ।[22]

परुष्णी तथा सिन्धु नदियों का प्रदेश उस समय ऊन की उपज तथा ऊनी शिल्प के लिए विशेष प्रसिद्ध था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में मरुतों का वर्णन परुष्णी प्रदेश में निर्मित शुद्ध ऊनी वस्त्र पहने हुए किया गया है -

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः ।[23]

---

17. ऋ० सं० ३.४५.४
18. ऐतरेय ब्राम्हण ७.१५
19. ऋ सं० २२.२; ५.५२.९
20 . ऋ० सं० १.२५.१३
21. ऋ० सं० १०.७१.४
22. ऋ० सं० १०.१०७.९
23. ऋ० सं० ५.५२.९

कुर्ते के सदृश सिले हुए उपरिवस्त्र के लिए 'प्रतिधि',[24] शब्द प्रचलित था। सिर के ऊपर पगड़ी (उष्णीष) पहनी जाती थी। 'उष्णीष' शब्द का अर्थ है गर्मी को मारने वाली । यह अनेक प्रकार से बांधी जाती थी। पैरों में जूता पहनने की प्रथा भी उस समय थी ।

आभूषणों का प्रयोग, वैदिक काल में स्त्रियों के साथ ही पुरुष भी करते थे। गले में पहनने के लिए सौवर्णाभूषण 'निष्क' का ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख है - 'अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्'।[25] सिक्के के रूप में भी इसका प्रयोग प्रचलित था- इससे प्रतीत होता है कि 'निष्क' गोल या चौकोर होगा, जिसे धागे में पिरोकर माला के रूप में कण्ठ में पहना जाता होगा। 'रुक्म' संज्ञक आभूषण का निर्माण भी स्वर्ण से ही होता था - इसे वक्ष:स्थल पर धारण किया जाता था। 'खादि' नामक आभूषण को पैरों, भुजाओं अथवा कलाई में पहना जाता था। कार्णाभूषण 'कर्णशोभन' कहलाते थे । मोतियों और मणियों की मालाएँ भी पहनी जाती होंगी। यजुर्वेद में 'मणिकार' तथा 'हिरण्यकार' (स्वर्णकार) का उल्लेख है, जिनका कार्य बहुविध आभूषणों का निर्माण करना था ।

आज के भौतिकयुग में जीवन प्रणाली का  जो स्तर है, वो हमे एक दूसरे से विभक्त करती हो एसा दिखाई देता है । आज हम शिक्षा के क्षेत्र में भी मूल्य शिक्षण का स्तर काम और जीवन उपार्जन के लिए ही शिक्षा है एसा मालूम होता है मगर हमारी संस्कृति में शिक्षा का उदेश्य मानवीय मूल्यों के साथ जीवन उत्कर्ष के साथ अपनी रुचि अनुसार रोजगार प्राप्त करता था । मानवीय मूल्यों आधारित शिक्षा और जीवन निर्वाह की उत्तम व्यवस्था का मूल वेद में से हमे प्राप्त होता है । जो हम भूल गए है या हमने उस तरफ देखा नहीं है तो अभी 21 मी सदी में हमे जाग कर फिर हमारी प्राचीन प्रणाली की और हमे बढ़ना चाहिए ।  भारत सरकार  द्वारा National Education Policy के माध्यम से हमारी प्राचीन ज्ञान परंपरा को फिर से पुनः जीवित करने का उत्तम प्रयास किया है । आज भारत देश विकसित देशों की और बढ़ चल है, भारत विश्वगुरु बनाने के लिए हमारी ज्ञान परंपरा का बहुत योगदान रहेगा क्यू की हमारी संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सूत्र की भावना को साथ चलने मे विश्वास रखता है इसी लिए आज हमे हमारी भारतीय ज्ञान परंपरा को पुनःस्मरण करने से हमारी विरासत को पुनःजीवित करके विश्वगुरु बन सकते है ।

24. अथर्व सं० १४.१८

25. ऋ० सं० २.३३.१०